

७. षट्खण्डागमकी टीका धवलाके रचयिता

प्रस्तुत ग्रंथ धवलाके अन्तमें निम्न नौ गाथाएं पाई जाती हैं जो इसके रचयिताकी प्रशस्ति है

--

धवलाकी अन्तिम प्रशस्ति

जरस सेसाएण (पसाएण) मए सिद्धंतमिदं हि अहिलहुंदी (अहिलहुंद) ।
महु सो एलाइरियो पसियउ वरवीरसेणस्स ॥ १ ॥
वंदामि उसहसेण तिहवण-जिय-बंधवं सिवं संतं ।
णाण-किरणावहासिय-सयल-इयर-तम-पणासियं दिट्ठ ॥ २ ॥
अरहंतपदो (अरहंतो) भगवंतो सिध्वा सिध्वा पसिध्व आइरिया ।
साहू साहू य महं पसियंतु भडारया सव्वे ॥ ३ ॥
अज्जज्जणंदिसिस्सेणुज्जुव-कम्मस्स चंदसेणस्स ।
तह णत्तुवेणं पंचत्थुहण्यंभाणुणा मुणिणा ॥ ४ ॥
सिधंत-छंद-जोइस-वायरण-पमाण-सत्थ-णिवुणेण ।
भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥ ५ ॥
अहुतीसम्हि सासिय विक्कमरायम्हि एसु संगरमो । (?)
पासे सुतेरसीए भाव-विलग्गे धवल-पक्खे ॥ ६ ॥
जगतुंगदेवरज्जे रियम्हि कुंभम्हि राहुणा कोणे ।
सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥
चावम्हि वरणिवुत्ते सिंघे सुककम्मि णेमिचंदम्मि ।
कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥
वोद्वणराय- णरिदे णरिंद-चूडामणिम्हि भुंजंते ।
सिधंतगंथमत्थिय गुरुप्पसाएण विगत्ता सा ॥ ९ ॥

दुर्भाग्यतः इस प्रशस्तिका पाठ अनेक जगह अशुद्ध है जिसे उपलब्ध अनेक प्रतियोंके मिलानसे भी अभीतक हम पूरी तरह शुद्ध नहीं कर सकें। तो भी इस प्रशस्तिसे टीकाकारके विषयमें

हमें बहुतसी ज्ञातव्य बातें विदित हो जाती हैं। पहली गाथासे स्पष्ट है कि इस टीकाके रचयिताका नाम वीरसेन है और उनके गुरुका नाम एलाचार्य। फिर चौथी गाथामें वीरसेनके गुरुका नाम आर्यनन्दि और दादा गुरुका नाम चन्द्रसेन कहा गया है। संभवतः एलाचार्य उनके विद्यागुरु और आर्यनन्दि दीक्षागुरु थे। इसी गाथामें उनकी शाखाका नाम भी पंचस्तूपान्वय दिया है। पाँचवी गाथामें कहा गया है कि इस टीकाके कर्ता वीरसेन सिधांत, छंद, ज्योतिष, व्याकरण और प्रमाण अर्थात् न्याय, इन शास्त्रोंमें निपुण थे और भट्टारकपदसे विभूषित थे। आगेकी तीन अर्थात् ६ से ८ वी तककी गाथाओंमें इस टीकाका नाम 'धवला' दिया गया है और उसके समाप्त होनेका समय वर्ष, मास, पक्ष, तिथि, नक्षत्र व अन्य ज्योतिषसंबन्धी योगोंके सहित दिया है और जगतुंगदेव के राज्यका भी उल्लेख किया है। अन्तिम अर्थात् ९ वी गाथामें पुनः राजाका नाम दिया है जो प्रतियोंमें 'वोद्धणराय' पढ़ा जाता है। वे नरेन्द्रचूडामणि थे। उन्हींके राज्यमें सिधान्तग्रन्थके ऊपर गुरुके प्रसादसे लेखकाने इस टीकाकी रचना की।

द्वितीय सिधान्त ग्रन्थ कषायप्राभृतकी टीका 'जयधवला' का भी एक भाग इन्हीं वीरसेनाचार्यका लिखा हुआ है। शेष भाग उनके शिष्य जिनसेनने पूरा किया था। उसकी प्रशस्तिमें भी वीरसेनके संबन्धमें प्रायः ये ही बातें कही गई हैं। चूंकि वह प्रशस्ति१ (भूयादीवीरसेनस्य वीरसेनस्य शासनम् । शासनं वीरसेनस्य वीरसेन-कुशेशयम् ॥१७॥) आसीदासीददासन्नभव्यसत्त्वकमुद्दतीम् । मुद्दती कर्तुमीशो यः शशांक इव पुष्कलः ॥१८॥ श्रीवीरसेन इत्यात्भट्टारकपृथुप्रथः । पारदृश्वाधिविश्वांना साक्षादिव स केवली ॥१९॥ प्रीणितप्राणिसंपत्तिक्रांताशेषगोचरा । भारती भारतीवाज्ञा षट्खण्डे यस्य नास्खलत् ॥२०॥ यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञां दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम् । जाताः सर्वज्ञसभ्दावे निरारेका मनीषणः ॥२१॥ यं पाहुः प्रस्फुरव्वोधदीधितिप्रसरोदयम् । श्रुतकेवलिनं प्राज्ञाः प्रज्ञाश्रमणसत्तमम् ॥२२॥ प्रसिद्ध-सिधसिधान्तवार्धिवार्धीतशुद्धधीः । सार्द्दं प्रत्येकबुद्धैर्यः स्पर्धते धीदबुद्धिभिः ॥२३॥ पुस्तकाना चिरत्वानां गुरुत्वमिह कुर्वता । येनातिशयिताः पूर्वे सर्वे पुस्तकशिष्यकाः ॥२४॥ यस्तप्तोद्वीप्तकिरणैर्भव्यांभोजानि बोधयन् । व्यद्योतिष्ठ मुनीनेनः पंचस्तूपान्वयांबरे ॥२५॥ प्रशिष्यश्चन्द्रसेनस्य यः शिष्योऽप्यार्यनन्दिनाम् । कुलं गणं च सन्तानं स्वगुणैरुदजिज्वलत् ॥२६॥ तस्य शिष्योऽभवच्छ्रीमान् जिनसेनसमिधधीः (जयधवला-प्रशस्ति) उनके शिष्यव्वारा लिखी गई है

अतएव उसमें उनकी कीर्ति विशेष रू पसे वर्णित पाई जाती है। वहां उन्हे साक्षात् केवलीके समान समस्त विश्वके पारदर्शी कहा है। उनकी वाणी षट्खण्ड आगममें अस्खलित रू पसे प्रवृत्त होती थी। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञाको देखकर सर्वज्ञकी सत्तामें किसी मनीषीको शंका नहीं रही थी। विव्वान् लोक उनकी ज्ञानरू पी किरणोंके प्रसारको देखकर उन्हे प्रज्ञाश्रमणोंमें श्रेष्ठ आचार्य और श्रुतकेवली कहते थे। सिध्वान्तरू पी समुद्रके जलसे उनकी बुधिं शुद्ध हुई थी जिससे वे तीव्रबुधी प्रत्येक बुधोसे भी स्पर्धा करते थे। उनके विषयमें एक मर्मिक बात यह कही गई है कि उन्होने चिरंतन कालकी पुस्तकों (अर्थात् पुस्तकारू ढ सिध्वान्तों) की खूब पुष्टि की और इस कार्यमें वे अपनेसे पूर्वके समस्त पुस्तक-पाठियोंसे बढ़ गये। इसमें सन्देश नहीं कि वीरसेनकी इस टीकाने इन आगम-सूत्रोंको चमका दिया और अपनेसे पूर्वकी अनेक टीकाओंको अस्तमित कर दिया।

जिनसेनने अपने आदिपूराणमें भी गुरु वीरसेनकी स्तुति की है और उनकी भट्टारक पदवीका उल्लेख किया है। उन्हे वादि-वृन्दारक मुनि कहा है, उनकी लोकविज्ञता कवित्वशक्ति और वाचस्पतिके समान वाग्मिताकी प्रशंसा की है, उन्हे सिध्वान्तोपनिबन्धकर्ता कहा है तथा उनकी 'धवला' भारतीको भुवनव्यापिनी कहा है^१।

इन्द्रनन्दिने अपने श्रृतावतारमें वीरसेनव्वारा धवला और जयधवला टीका लिखे जानेका इस प्रकार वृत्तान्त दिया है। बप्पदेव गुरु व्वारा सिध्वांत ग्रंथोकी टीका लिखे जानेके कितने ही काल पश्चात् सिध्वांतोके तत्त्वज्ञ श्रीमान एलाचार्य हुए जो चित्रकूटपूरमें निवास करते थे। उनके पास वीरसेन गुरु ने समस्त सिध्वांतका अध्ययन किया और ऊपरके निबन्धनादि आठ अधिकार लिखे। फिर गुरु की अनुज्ञा पाकर वे वाटग्राममे आये और वहाके आनतेन्द्रव्वारा बनवाये हुए जिनालयमें रहरे। वहां उन्हे व्याख्याप्रज्ञप्ति (बप्पदेव गुरु की बनाई हुई टीका) प्राप्त हो गई। फिर उन्होने ऊपरके बन्धनादि अठारह अधिकार पूरे करके सत्कर्म नामका छटवां खण्ड संक्षेपसे तैयार किया और इस प्रकार छह खण्डोकी ७२ हजार श्लोक प्रमाण प्राकृत और संस्कृत मिश्रित धवला टीका लिखी। तत्पश्चात् कषायप्राभृतकी चार विभक्तियोकी २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखनेके पश्चात् ही वे स्वर्गवासी हो गये। तब उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) गुरु ने ४० हजार श्लोक

प्रमाण टीका और लिखकर उसे पूरा किया। इस प्रकार जयधवला ६० हजार श्लोक-प्रमाण तैयार हुई^२।

वीरसेन स्वामीकी अन्य कोई रचना हमे प्राप्त नहीं हुई और यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनका समस्त सज्ञान अवस्थाका जीवन निश्चयतः इन सिध्दांत ग्रंथोंके अध्ययन, संकलन और टीका-लेखनमे ही बीता होगा। उनके कृतज्ञ शिष्य जिनसेनाचार्यने उन्हे जिन विशषणों और पदवियोंसे अलंकृत किया है उन सबके पोषक प्रमाण उनकी धवला और जयधवला टीकामें प्रचुरतासे पाये जाते हैं। उनकी सूक्ष्म मार्मिक बुद्धी, अपार पाण्डित्य, विशाल स्मृती और अनुपम व्यासंग उनकी रचनाके पृष्ठ पृष्ठ पर झलक रहे हैं। उनकी उपलभ्य रचना $72+20=92$ हजार श्लोक प्रमाण है। महाभारत शतसाहस्री अर्थात् एक लाख श्लोक प्रमाण होनेसे संसारका सबसे बड़ा काव्य समझा जाता है। पर वह सब एक व्यक्तिकी रचना नहीं है^३ वीरसेनकी रचना मात्रामें शतसाहस्री महाभारतसे थोड़ी हीकम है, पर वह उन्ही एक व्यक्तिके परिश्रमका फल है। धन्य है वीरसेन स्वामीकी अपार प्रज्ञा और अनुपम साहित्यिक परिश्रमको। उनके विषयमें भवभूति कविके वे शब्द याद आते हैं

उत्पत्त्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा,
कालो ह्यां निरवधिर्विपुला च पृथ्वी ।

वीरसेनाचार्यका समय निश्चित है। उनकी अपूर्णटीका जयधवलाको उनके शिष्य जिनसेनने शक सं. ७५९ की फाल्गुन शुक्ला दशमी तिथिको पूर्ण की थी और उस समय अमोघवर्षका राज्य था। (इति श्रीवीरसेनीया वीरसेनाचार्यका टीका सूत्रार्थदर्शिनी। वाट्ग्रामपुरे श्रीमद्गूर्जरार्यानुपालिते ॥६॥ फाल्गुने मासि पूर्वाह्वाने रचनाकाल दशम्या शुक्लपक्ष। प्रवर्द्धमानपूजोरुनन्दीश्वरमहोत्सवे ॥७॥ अमोघवर्षराजेद्राज्यप्राज्यगुणोदया। निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्त्तमनलिपिका ॥ ८॥ एकोनष्ठि स्तिसमधिकसप्तशतादेषु शकनरेन्द्रस्य। समतीतेषु

समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥१॥ -जयधवला प्रशस्ति) मान्यखेटके राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथमके उल्लेख उनके समयके ताम्रपटोमें शक सं. ७३७ से लगाकर ७८८ तक अर्थात् उनके राज्यके ५२ वीं वर्ष तकके मिलते हैं२।(Altekar: The Rashtrakutas and their times, p.71 Dr.Altekar, on page 87 of his book says ‘His (Amoghavarsha's) latest known date is phalgun S'uddha 10, S'aka 799 (i.e.March.878 A. D), when the Jayadhadhala tika of virasena was finished. This is a gross mistake. He has wrongly taken s'aka 759 to be saka 799.) अतः जयधवला टीका अमोघवर्षके राज्यके २३ वीं वर्ष में समाप्त हुई सिद्ध होती है। स्पष्टतः इससे कई वर्ष पूर्व धवला टीका समाप्त हो चुकी थी और वीरसेनाचार्य स्वर्गवासी हो चूके थे। व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन्। उपरितमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥१८०॥ सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य। इति षण्णां खण्डानां ग्रंथसहस्रैर्विद्विसप्तत्या ॥१८१॥ प्राकृत-संस्कृत-भाषा-मिश्रां टीका विलिख्य धवलाख्याम्। जयधवला च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम् ॥१८२॥ विशतिसहस्रसद्ग्रंथरचनया संयुतां विरच्य दिवम्। यातस्ततः पुनरत्तच्छिष्यो जयसेन (जिनसेन !) गुरुनामा ॥१८३॥

तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैःसमापितवान्। जयधवलैवं षष्टिसहस्रग्रंथोऽभवटीका ॥१८४॥

१.इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी। वाटग्रामपूरे श्रीमद्गूर्जरार्यानुपालिते ॥

फाल्गुने मासि पूर्वाहे दशम्यां शुक्लपक्षके। प्रवर्ध्दमानपूजोरु नन्दीश्वरमहोत्सवे ॥७॥

अमोघवर्षराजेन्द्रराज्यप्राज्यगुणोदया। निष्ठिता प्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥८॥

एकोनषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य। समतीतेषु समाप्ता जयधवला

प्राभृतव्याख्या ॥९॥- जयधला प्रशस्ति

धवला टीकाके अन्तकी जो प्रशस्ति स्वयं वीरसेनाचार्यकी लिखी हुई हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं उसकी छटवीं गाथामें उस टीकाकी समाप्तिके सूचक कालका निर्देश है। किन्तु दुर्भाग्यतः

हमारी उपलब्ध प्रतियोंमें उसका पाठ बहुत भ्रष्ट है इससे वहां अंकित वर्षका ठीक निश्चय नहीं होता। किंतु उसमें जगतुंगदेवके राज्यका स्पष्ट उल्लेख है। राष्ट्रकूट नरेशोंमें जगतुंग उपाधि अनेक राजाओंकी पाई जाती है। इनमेंसे प्रथम जगतुंग गोविंद तृतीय थे जिनके ताम्रपट शक संवत् ७१६ से ७३५ तकके मिले हैं। (रेझ भारतके प्राचीन राजवंश) इन्हींके पुत्र अमोघवर्ष प्रथम थे जिनके राज्यमें जयधवला टीका जिनसेन व्दारा समाप्त हुई। अतएव यह स्पष्ट है कि धवलाकी प्रशस्तिमें इन्हीं गोविन्दराज जगतुंगका उल्लेख होना चाहिये।

अब कुछ प्रशस्तिका उन शंकास्पद गाथाओंपर विचार कीजिये। गाथा नं. ६ में ‘अडृतीसंम्हि’ और ‘विक्कमरायम्हि’ सुस्पष्ट हैं। शताब्दिकी सूचनाके अभावमें अडृतीसवां वर्ष हम जगतुंगदेवके राज्यका ले सकते थे। किंतु न तो उसका विक्रमराजसे कुछ संबन्ध बैठता और न जगतुंगका राज्य ही ३८ वर्ष रहा। जैसा हम ऊपर बतला चुके हैं उनका राज्य केवल २० वर्ष के लगभग रहा था। अतएव इस ३८ वर्ष का संबन्ध विक्रमसेही होना चाहिये। गाथामें शतसूचक शब्द गडबडीमें है। किंतु जान पड़ता है लेखकका तात्पर्य कुछ सौ ३८ वर्ष विक्रम संवतके कहनेका है। किंतु विक्रम संवत्के अनुसार जगतुंगका राज्य ८५१ से ८७० के लगभग आता है। अतः उसके अनुसार ३८ के अंककी कुछ सार्थकता नहीं बैठती। यह भी कुछ साधारण नहीं जान पड़ता कि वीरसेनने यहां विक्रम संवत का उल्लेख किया हो। उन्होंने जहां जहां वीर निर्वाणकी काल-गणना दी है वहां शक-कालका ही उल्लेख किया है। उनके शिष्य जिनसेनने जयधवलाकी समाप्तिका काल शकगणनानुसार ही सूचित किया है। दक्षिणके प्रायः समरत् जैन लेखकोंने शककालका ही उल्लेख किया है। ऐसी अवस्थामें आश्चर्य नहीं जो यहां भी लेखकका अभिप्राय शक कालसे हो। यदि हम उक्त संख्या ३८ के साथ सातसौ और मिला दें और ७३८ शक संवतके लें तो यह काल जगतुंगके ज्ञात काल अर्थात् शक संवत् ७३५ के बहुत समीप आ जाता है।

अब प्रश्न यह है कि जब गाथामें विक्रमराजका स्पष्ट उल्लेख है तब हम उसे शक संवत् अनुमान कैसे कर सकते हैं? पर खोज करनेसे जान पड़ता है कि अनेक जैन लेखकोंने प्राचीन कालसे शक कालके साथ भी विक्रमका नाम जोड़ रखा है। अकलंकचरितमें अकलंकके बौद्धोंके साथ शास्त्रार्थका समय इस प्रकार बतलाया है।

विक्रमार्कशकाब्दीयशतसप्तप्रमाजुषि ।

कालेऽकलङ्कृयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत् ॥

यद्यपि इस विषयमें मतभेद है कि यहां लेखकका अभिप्राय विक्रम संवत् से है या शकसे, किन्तु यह तो स्पष्ट है कि विक्रम और शकका संबन्ध एक ही काल गणनासे जोड़ा गया है। (

Inscriptions at Sravana Belgola, Intro. P. 84 and न्याय कु. चं. भुमिका पृ. १०३)। यह भ्रमवश हो और चाहे किसी मान्यतानुसार। यह भी बात नहीं है कि अकेला ही इस प्रकारका उदाहरण हो। त्रिलोकसारकी गाथाव नं. ८५० की टीका करते हुए टीकाकार श्री माधवचन्द्र त्रैविद्य लिखते हैं ----

‘श्रीवरीनाथनिवृत्तेः सकाशात् पंचोत्तरषट्शतवर्षाणि (६०५) पंचमासयुतानि गत्वा पश्चात् विक्रमांकशकराजो जायते। तत उपरि चतुर्णवत्युत्तरत्रिशत (३९४) वर्षाणि सप्तमासाधिकानि गत्वा पश्चात् कल्की जायते’।

यहां विक्रमांक शकराजका उल्लेख है और उसका तात्पर्य स्पष्टतः शकसंवत् के संस्थापकसे है। उक्त अवतरणपर डॉ. पाठकने टिप्पणी की है कि यह उल्लेख त्रुटी-पूर्ण है। उन्होंने ऐसा समझ कर यह कहा ज्ञात होता है कि उस शब्दका तात्पर्य विक्रम संवतसे ही हो सकता है। किन्तु ऐसा नहीं है। शक संवत् की सूचनामें ही लेखकने विक्रमका नाम जोड़ा है, और उसे शकराजकी उपाधि कहा है जो सर्वथा संभव है। शक और विक्रमके संबन्धकी कालगणनाके विषयमें जैन लेखकोंमे कुछ भ्रम रहा है यह तो अवश्य है। त्रिलोकप्रज्ञप्तिमे जो शककी उत्पत्ति वीरनिर्वाणसे ४६१ वर्ष पश्चात् या विकल्पसे ६०५ वर्ष पश्चात् बतलाई गई है २ (वीरजिणं सिद्धिगदे चउ-सद-इगसहि वास-परिमाणे। कालम्भि अदिक्कंते उप्पण्णो एत्थ सगराओ ॥८६॥। णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास-सदेसु पंच-वरिसेसु। पण-मासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ॥८९॥। तिलोयपण्णति) उसमें यही भ्रम या मान्यता कार्यकारी है, क्योंकि, वीर नि. से ४६१ वां वर्ष विक्रमके राज्यमे पड़ता है और ६०५ वर्ष

से शककाल प्रारंभ होता है। ऐसी अवस्थामें प्रस्तुत गाथामें यदि ‘विक्कमरायम्हि’ से शकसंवतकी सूचना ही हो तो हम कह सकते हैं कि उस गाथाके शुद्ध पाठमें धवलाके समाप्त होनेका समय शक संवत् ७३८ निर्दिष्ट रहा है।

इस निर्णयमें एक कठिनाई उपस्थित होती है। शक संवत् ७३८ में लिखे गये नवसारीके ताम्रपटमें जगतुंगके उत्तराधिकारी अमोघवर्षके राज्यका उल्लेख है। यही नहीं, किंतु शक संवत् ७८८ के सिरुरसे मिले हुए ताम्रपटमें राज्यके ५२ वें वर्षका उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि अमोघवर्षका राज्य ७३७ से प्रारंभ हो गया था। तब फिर शक ७३८ में जगतुंगका उल्लेख किस प्रकार किया जा सकता है? इस प्रश्नपर विचार करते हुए हमारी दृष्टि गाथा नं. ७ में ‘जगतुंगदेवरज्जे’ के अनन्तर आये हुए ‘रियम्हि’ शब्दपर जाती है जिसका अर्थ होता है ‘ऋते’ या ‘संभवतः’। उसीसे कुछ पूर्व जगतुंगदेवका राज्य गत हुआ था और अमोघवर्ष सिंहासनारुद्ध हुए थे। इस कल्पनासे आगे गाथा नं. ९ में जो बोद्धणराय नरेन्द्रका उल्लेख है, उसकी उलझन भी सुलझ जाती है। बोद्धणराय संभवतः अमोघवर्षका ही उपनाम होगा। या वह वड्डिगकाही रूप हो और वड्डिग अमोघवर्षका उपनाम हो। अमोघवर्ष तृतीयका उपनाम वड्डिग या वड्डिगका तो उल्लेख मिलता ही है। यदि यह कल्पना ठीक हो तो वीरसेन स्वामीके इन उल्लेखोंका यह तात्पर्य निकलता है कि उन्होंने धवला टीका शक संवत् ७३८ में समाप्त की जब जगतुंगदेवका राज्य पूरा हो चुका था और बोद्धणराय (अमोघवर्ष) राजगद्वीपपर बैठ चुके थे। ‘जगतुंगदेवरज्जे’ और ‘बोद्धणरायणरिदे णरिदचूडामणिम्हि भुंजंते’ पाठोंपर ध्यान देनेसे यह कल्पना बहुत कुछ पुष्ट हो जाती है।

अमोघवर्षके राज्यके प्रारंभिक इतिहासको देखनेसे जान पड़ता है कि संभवतः गोविन्दराजने अपने जीवनकालमें ही अपने अल्पवयस्क पुत्र अमोघवर्षको राजतिलक कर दिया था और उनके संरक्षक भी नियुक्त कर दिये थे, और आप राज्यभारसे मुक्त होकर, आश्चर्य नहीं, धर्मध्यान करने लगे हों। नवसारीके शक ७३८ के ताम्रपटोंमें अमोघवर्षके राज्यमें किसी प्रकारकी गडबडीकी सूचना नहीं है, किंतु सूरतसे मिले हुए शक संवत् ७४३ के ताम्रपटोंमें एक विप्लवके समनके पश्चात्

अमोघवर्षके पुनः राज्यारोहणका उल्लेख है। इस विप्लवका वृन्तात् बडौदासे मिले हुए शक संवत् ७५७ के ताम्रपटोंमें भी पाया जाता है। अनुमान होता है कि गोविन्दराजके जीवनकालमें तो कुछ गडबडी नहीं हुई किंतु उनकी मृत्युके पश्चात् राज्यसिंहासनके लिये विप्लव मचा जो शक संवत् ७४३ के पूर्व समन हो गया। (Altekar : The Rashtrakutas and their times p. 71 ft) अतएव शक ७३८ में जगतुंग (गोविन्दराज) जीवित थे इस कारण उनका उल्लेख किया और उनके पुत्र सिंहासनारुढ हो चुके थे इससे उनका भी कथन किया, यह उचित जान पड़ता है।

यदि यह कालसंबन्धी निर्णय ठीक हो तो उस परसे वीरसेनस्वामीके कुल रचनाकाल व धवलाके प्रारंभकालका भी कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। धवला टीका ७३८ शकमें समाप्त हुई और जयधवला उसके पश्चात् ७५९ शक में। तात्पर्य यह कि कोई २० वर्ष में जयधवलाके ६० हजार श्लोक रचे गये जिसकी औसत एक वर्षमें ३ हजार आती है। इस अनुमानसे धवलाके ७२ हजार श्लोक रचनेमें २४ वर्ष लगना चाहिये। अतः उसकी रचना $73 - 24 = 714$ शकमें प्रारंभ हुई होगी, और चूंकि जयधवलाके २० हजार श्लोक रचे जानेके पश्चात् वीरसेन स्वामीकी मृत्यु हुई और उतने श्लोकोंकी रचनामें लगभग ७ वर्ष लगे होंगे, अतः वीरसेनस्वामीके स्वर्गवासका समय $738 + 7 = 745$ शकके लगभग आता है। तथा उनका कुल रचना-काल शक ७१४ से ७४५ अर्थात् ३१ वर्ष पड़ता है। (आजसे कोई ३० वर्ष पूर्व विव्दव्दर पं. नाथूरामजी प्रेमीने अपनी विव्दद्रत्नमाला नामक लेखमालामें वीरसेनके शिष्य जिनसेन स्वामीका पूरा परिचय देते हुए बहुत सयुक्तिक रूपसे जिनसेनका जन्मकाल शक संवत् ६७५ अनुमान किया था और कहा था कि उनके गुरुका जन्म उनसे 'अधिक नहीं तो १० वर्ष पहले लगभग ६६५ शकमें हुआ होगा' इससे वीरसेनस्वामीका जीवनकाल शक ६६५ से ७४५ तक अर्थात् ८० वर्ष पड़ता है। ठीक यही अनुमान अन्य प्रकारसे संख्या जोड़कर प्रेमीजीने किया था और लिखा था कि 'जिनसेनस्वामीके गुरु वीरसेनस्वामीकी अवस्था भी ८० वर्षसे कम न हुई होगी ऐसा जान पड़ता है। विव्दद्रत्नमाला पृ. २५ आदि, व पृ. ३६ इन हमारे कविश्रेष्ठोंके पूर्ण परिचयके लिये पाठकोंको प्रेमीजीका वह ८९ पृष्ठोंका पूरा लेख पढ़ना चाहिये।)

अब हम प्रशस्तिमें दी हुई ग्रह-स्थितिपर भी विचार कर सकते हैं। सूर्यकी स्थिति तुला राशिमें बताई गई है सो ठीक ही है, क्योंकि, कार्तिक मासमें सूर्य तुलामें ही रहता है। चन्द्रकी स्थितिका द्योतक पद अशुद्ध है। शुक्लपक्ष होनेसे चन्द्र सूर्यसे सात राशिके भीतर ही होना चाहिये और कार्तिक मासकी त्रयोदशीको चन्द्र मीन या मेष राशिमें ही हो सकता है। अतएव ‘णेमिचंदम्मि’ की जगह शुद्ध पाठ ‘मीणे चंदम्मि’ प्रतीत होता है जिससे चन्द्रकी स्थिति मीन राशिमें पड़ती है। लिपिकारके प्रमादसे लेखनमें वर्णव्यात्यय हो गया जान पड़ता है। शुक्रकी स्थिति सिंह राशिमें बताई है जो तुलाके सूर्यके साथ ठीक बैठती है।

संवत्सरके निर्णयमें नौ ग्रहोंमेंसे केवल तीन ही ग्रह अर्थात् गुरु, राहु और शनिकी स्थिति सहायक हो सकती है। इनमेंसे शनिका नाम तो प्रशस्तिमें कही दृष्टिगोचर नहीं होता। राहु और गुरुके नामोल्लेख स्पष्ट हैं किन्तु पाठ-भ्रमके कारण उनकी स्थितिका निर्भान्त ज्ञान नहीं होता। अतएव इन ग्रहोंकी वर्तमान स्थितिपरसे प्रशस्तिके उल्लेखोंका निर्णय करना आवश्यक प्रतीत हुआ। आज इसका विवेचन करते समय शक १८६१, आश्विन शुक्ला ५, मंगलवार है, और इस समय गुरु मीनमें, राहु तुलामें तथा शनि मेषमें है। गुरुकी एक परिक्रमा बारह वर्षमें होती है, अतः शक ७३८ से १८६१ अर्थात् १९२३ वर्षमें उसकी ९३ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष सात वर्षमें सात राशियां आगे बढ़ी। इस प्रकार शक ७३८ में गुरुकी स्थिती कन्या या तुला राशिमें होना चाहिये। अब प्रशस्तिमें गुरुको हम सूर्यके साथ तुला राशिमें ले सकते हैं।

राहुकी परिक्रमा अठारह वर्षमें पूरी होती है। अतः गत १९२३ वर्षमें उसकी ६२ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष सात वर्षमें वह लगभग पांच राशि आगे बढ़ा। राहुकी गति सदैव वक्री होती है। तदनुसार शक ७३८ में राहुकी स्थिति तुलासे पांचवी राशि अर्थात् कुंभमें होना चाहिये। अतएव प्रशस्तिमें हम राहुका सम्बन्ध कुंभम्हि से लगा सकते हैं। राहु यहां तृतीयान्त पद क्यों है इसका समाधान आगे करेंगे।

शनिकी परिक्रमा तीस वर्षमें पूरी होती है। तदनुसार गत ११२३ वर्षमें उसकी ३७ परिक्रमाएं पूरी हुई और शेष १३ वर्षमें वह कोई पांच राशि आगे बढ़ा। अतः शक ७३८ में शनि धनु राशिमें होना चाहिये। जब धवलाकारने इतने ग्रहोंकी स्थितियां दी हैं, तब वे शनि जैसे प्रमुख ग्रहको भूल जाय यह संभव न जान हमारी दृष्टि प्रशस्तिके चापम्हि वरणिवुत्ते पाठपर गई। चाप का अर्थ तो धनु होता ही है, किन्तु वरणिवुत्ते से शनिका अर्थ नहीं निकल सका। पर साथ ही यह ध्यानमें आते देर न लगी की संभवतः शुद्ध पाठ तरणि-वुत्ते (तरणिपुत्रे) है। तरणि सूर्यका पर्यायवाची है और शनि सूर्यपुत्र कहलाता है। इस प्रकार प्रशस्तिमें शनिका भी उल्लेख मिल गया और इन तीन ग्रहोंकी स्थितिसे हमारे अनुमान किए हुए धवलाकेसमाप्तिकाल शक संवत् ७३८ की पूरी पुष्टि हो गई।

इन ग्रहोंका इन्हीं राशियोंमें योग शक ७३८ के अतिरिक्त केवल शक ३७८, ५५८, ९९८, १०९८, १२७८, १४५८, १६३८ और १८१८ मेंही पाया जाता है, और ये कोईभी संवत् धवलाके रचनाकालकेलिये उपयुक्त नहीं हो सकते।

अब ग्रहोंमेंसे केवल तीन अर्थात् केत्तु, मंगल और बुध ही ऐसे रह गये जिनका नामोल्लेख प्रशस्तिमें हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ। केत्तुकी स्थिति सदैव राहुसे सप्तम राशिपर रहती है, अतः राहुकी स्थिति बता देने पर उसकी स्थिति आप ही स्पष्ट हो जाती है कि उस समय केत्तु सिंह राशिमें था। प्रशस्तिके शेष शब्दोंपर विचार करनेसे हमें मंगल और बुधका भी पता लग जाता है। प्रशस्तिमें ‘ कोणे ’ शब्द आया है। कोण शब्द कोषके अनुसार मंगलका भी पर्यायवाची है । (Apte : Sanskrit English Dictionary.)

जैसा आगे चलकर ज्ञात होंगा, कुंडली-चक्रमें मंगलकी स्थिति कोनेमें आती है, इसीसे संभवतः मंगलका यह पर्याय कुशल कविको यहां उपयुक्त प्रतीत हुआ। अतः मंगलकी स्थिति राहुके साथ कुंभ राशिमें थी। राहु पदकी तृतीया विभक्ति इसी साथको व्यक्त करनेकेलिये रखी गई जान पड़ती है। अब केवल ‘भावविलगे’ और ‘कुलविल्लए’ शब्द प्रशस्तिमें ऐसे बच रहे हैं जिनका अभीतक उपयोग नहीं हुआ। कुल का अर्थ कोषानुसार बुध भी होता है, (Apte : Sanskrit English Dictionary.) और बुध सूर्यकी आजू बाजूकी राशियोंसे बाहर नहीं जा सकता। जान पड़ता है यहां कुलविल्लए का अर्थ ‘

कुलविलये ' है। अर्थात् बुधकी सूर्यकी ही राशिमें स्थिति होनेसे उसका विलय था। गाथामें मात्रापूर्तिकेलिये विलए का विल्लए कर दिया प्रतीत होता है।

जब तक लग्नका समय नहीं दिया जाता तब तक ज्योतिष कुंडली पूरी नहीं कही जा सकती। इस कमी की पूर्ति 'भावविलगे' पद से होती है। 'भावविलगे' का कुछ ठीक अर्थ नहीं बैठता। पर यदि हम उसकी जगह 'भाणुविलगे' पाठ ले लें तो उससे यह अर्थ निकलता है कि उस समय सूर्य लग्नकी राशिमें था, और क्योंकि सूर्यकी राशि अन्यत्र तुला बतला दी है, अतः इ आत हुआ कि धवला टीका को वीरसेन स्वामीने प्रातःकालके समय पूरी की थी जब तुला राशिके साथ सूर्यदेव उदय हो रहे थे।

इस विवेचनव्वारा उक्त प्रशिस्तिके समयसूचक पद्योंका पूरा संशोधन हो जाता है, और उससे धवलाकी समाप्तिका काल निर्विवाद रूपसे शक ७३८ कार्तिक शुक्ल १३, तदनुसार तारीख ८ अक्टूबर सन् ८९६, दिन बुधवार का प्रातःकाल, सिध्द हो जाता है। उससे वीरसेन स्वामीके सूक्ष्म ज्योतिष-ज्ञानका भी पता चल जाता है।

अब हम उन सतीन पद्योंको शुद्धतासे इस प्रकार पढ़ सकते हैं ----

अठतीसम्हि सतसए विक्कमरायंकिए सु-सगणामे ।

वासे सुतेरसीए भाणु-विलगे धवल-पक्खे ॥ ६ ॥

जगतुंगदेव-रज्जे रियम्हि कुभम्हि राहुणा कोणे ।

सूरे तुलाए संते गुरुम्हि कुलविल्लए होंते ॥ ७ ॥

चावम्हि तरणि-वुत्ते सिंघे सुककम्मि मीणे चंदम्मि ।

कन्तिय-मासे एसा टीका हु समाणिआ धवला ॥ ८ ॥

इस पर से धवला की जन्मकुंडली निम्नप्रकारसे खींची जा सकती है ---

८

६

९

७

५ के

श.

सू.बु.गु.

श.

१०

४

११

रा.

१

३

मं.

१२चं.

२

वीसेनस्वामीने अपनी टीकाका नाम धवला क्यों रखा यह कहीं बतलाया गया दृष्टिगोचर नहीं हुआ। धवलका शब्दार्थ शुक्लके अतिरिक्त शुद्ध, विशद, स्पष्ट भी होता है। संभव है अपनी टीकाके इसी प्रसाद गुणको व्यक्त करनेकेलिये उन्होंने यह नाम चुना हो। ऊपर दी हुई प्रशस्तिसे इ आत है कि यह टीका कार्तिक धवला नामकी मासके धवल पक्षकी त्रयोदशीको समाप्त हुई थी। अतएव संभव है इसी निमित्तसे रचयिताको सार्थकता यह नाम उपयुक्त जान पड़ा हो। ऊपर बतला चुके हैं कि यह टीका वद्विंग उपनामधारी अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्य के प्रारंभकालमें समाप्त हुई थी। अमोघवर्षकी अनेक उपाधियोंमें एक उपाधि 'अतिशय-धवल' भी मिलते हैं।

रेऊः भारतके प्राचीन राजवंश, ३ पृ. ४०।)। उनकी इस उपाधिकी सार्थकता या तो उनके शरीरके अत्यन्त गौरवर्णमें हो या उनकी अत्यन्त शुद्ध सात्त्विक प्रकृतिमें। अमोघवर्ष बडे धार्मिक बुद्धिवाले थे। उन्होंने अपने वृद्धत्वकालमें राज्यपाट छोड़कर वैराग्य धारण किया था और 'प्रश्नोत्तररत्नमालिका' नामक सुन्दर काव्य लिखा था। बाल्यकालसे ही उनकी यह धार्मिक बुद्धि प्रकट हुई होगी। अतः संभव है उनकी यह 'अतिशय-धवल' उपाधि भी धवलाके नामकरणमें एक निमित्तकारण हुआ हो।